* श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः *

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ स दा, केवल बंधनकर ॥

वर्ष ८ } गौराब्द ४७६, मास—वामन २८, वार—संकर्षण
सोमवार, ३१ आषाढ़, सम्वत् २०१८, १६ जुलाई १९६२ { संख्या २

श्रीश्रीवृन्दावनाष्टकम्

[श्रीरूप-गोस्वामि-विरचितम्]

मुकुन्द-मुरलीरव-श्रवण-फुल्ल-हृद्वल्लवीकदम्बक-करम्बित प्रतिकदम्ब-कुञ्जान्तरा ।
कलिन्दगिरिनन्दिनी कमलकन्दलान्दोलिना सुगन्धिरनिलेन मे शरणमस्तु वृन्दाटवी ॥१॥

विकुण्ठपुर-संश्रयाद्विपिनतोऽपि निःश्रेयसात् सहस्रगुणितां श्रियं प्रदुहती रस-श्रेयसीम् ।
चतुर्मुख-मुखैरपि स्पृहित-तार्णं देहोद्भवा जगद्गुरुभिरग्रिमैः शरणमस्तु वृन्दाटवी ॥२॥

अनारत-विकस्वर-व्रततिपुञ्ज-पुष्पावली-विसारि-वरसौरभोद्गम-रमा-चमत्कारिणी ।
अमन्दमकरन्दभुद्विटपिवृन्द-वन्दीकृत-द्विरेफकुल-वन्दिता शरणमस्तु वृन्दाटवी ॥३॥

क्षणद्युति-घन श्रियोर्व्रजनवीनयूनोः पदैः सुवल्गुभिरलंकृता ललित-लक्ष्म-लक्ष्मीभरैः ।
तयोर्नखरमण्डली-शिखर-केलिचर्योचितैर्वृता-किसलयांकुरैः शरणमस्तु वृन्दाटवी ॥४॥

व्रजेन्द्रसखनन्दिनी-शुभतराधिकार क्रिया-प्रभावज-सुखोत्सव-स्फुरित-जङ्गम-स्थावरा ।
प्रलम्बदमनानुज-ध्वनित-वंशिका-काकली-रसज्ञ-मृगमण्डला शरणमस्तु वृन्दाटवी ॥५॥

अमन्द-मुदिराबुंदाभ्यधिक-माधुरी-मेदुर-व्रजेन्द्रसुत-वीक्षणोन्नटित-नीलकण्ठोत्करा ।
दिनेश-सुहृदात्मजाकृत निजाभिमानोल्लसल्लता-खग-मृगाङ्गना शरणमस्तु वृन्दाटवी ॥६॥
अगण्यगुण-नागरीगण-गरिष्ठगान्धर्विका-मनोज-रण-चातुरी-पिशुन-कुञ्जपुष्पोज्ज्वला ।
जगत्त्रय-कलागुरोर्ललितलास्य-वल्गत्पद-प्रयोगविधि-साक्षिणी शरणमस्तु वृन्दाटवी ॥७॥
वरिष्ठ-हरिदासता-पदसमृद्ध-गोवर्द्धनो मधुद्वहवधू-चमत्कृतिनिवास-रासस्थला ।
अगूढ़गहनश्रियो मधुरिम-व्रजनोज्ज्वला व्रजस्य सहजेन मे शरणमस्तु वृन्दाटवी ॥८॥
इदं निखिल-निष्कुटावलिवरिष्ठ-वृन्दाटवी गुण-स्मरणकारि यः पठति सुष्ठु पद्याष्टकम् ।
वसन् व्यसन् मुक्तधीरनिशमत्र सद्वासनः स पीतवसने वशीरतिमवाप्य विक्रीड़ति ॥९॥

अनुवाद—

श्रीकृष्णकी मुरलीका स्वर सुनकर अत्यन्त प्रफुल्लित हुई गोपियोंसे जिनके कदम्ब आदि कुञ्ज परिपूरित हैं तथा कलिन्दगिरि-नन्दिनी श्रीयमुनाजीके कमल-समूहसे होकर प्रवाहित होनेवाले समीर-द्वारा जिनका सौरभ सम्पादित होता है, वे वृन्दावन मेरे आश्रय हों ॥१॥

वैकुण्ठपुरीसे भी अर्थात परव्योमस्थित कल्याणसे भी सहस्रगुन परमोन्नत (दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर) रस-सम्पतिको जो प्रदान करते हैं, जगद्गुरु चतुर्मुख ब्रह्मा भी जिसमें तृण-गुल्म-लता आदिके (हीन) जन्मके लिये प्रार्थना करते हैं, वे वृन्दावन ही मेरे आश्रय हों ॥२॥

जो समस्त ऋतुओंमें फूलोंसे लदी हुई लताओंके दूर तक फैले हुए सौरभद्वारा लक्ष्मीदेवीको भी विस्मित कर रहे हैं और अतिशय पुष्परस—मधुकी वर्षा करनेवाले वृक्ष श्रेणीके ऊपर भ्रमण करनेवाले भ्रमर गण भी जिनकी वंदना कर रहे हैं, वे वृन्दावन ही मेरे आश्रय हों ॥३॥

जिनका सारा अङ्ग—सौदामिनी और जलधर (नवीन मेघ) की भाँति एकत्र होकर वृन्दावनके नवीन श्रीराधा-गोविन्दकी अति मनोहर एवं ललित वज्र-अंकुश आदि-चिह्नित पद-पंक्ति द्वारा अंकित है और उन श्रीश्रीराधाकृष्णकी नख-श्रेणीका अनुगमन करनेवाले किसलयों तथा अंकुरोंद्वारा भी जो ढके हुए हैं, वे वृन्दावन ही मेरे आश्रय हों ॥४॥

श्रीनन्द महाराजके प्रिय-बान्धव वृषभानुराजकी दुहिता श्रीराधिकाकी आज्ञासे आनन्दोत्सवकी वृद्धिके लिये वृन्दा सखी जहाँके स्थावर-जंगम (वृक्ष-मनुष्य आदि) दोनों प्रकारके प्राणियोंके उल्लासका सम्पादन कर रही हैं और प्रलम्बासुरके शत्रु श्रीबलदेवके छोटे भाई श्रीकृष्णकी वंशीके मधुर स्वरके रसज्ञ मृगोंका समूह जिस स्थानमें विचरण करता है, वे वृन्दावन ही मेरे आश्रय हों ॥५॥

जहाँ श्रीकृष्णकी नवजलधर-कान्तिका दर्शन करके मयुरगण कौतुहल पूर्वक नृत्य कर रहे हैं एवं सूर्य-सुहृद् वृषभानुराज-नन्दिनी श्रीराधिकाके आत्माभिमान अर्थात् 'यह वृन्दाटवी मेरी है'—इस प्रीतिसूचक वचनको सुनकर लता, मृग और पक्षिगण मिथुन होकर जहाँ उल्लसित हो रहे हैं, वे वृन्दावन ही मेरे आश्रय हों ॥६॥

जिनके कुण्ड-समूह अगणित गुणोंसे सम्पन्न श्रीराधिकाकी मनोज- रण-चातुरीको सूचित कर रहे हैं और जो त्रिभुवनके प्रधान कला-कौशलके गुरु श्रीकृष्णके नृत्य-कार्यमें पद-चालनके साक्षी स्वरूप हैं, वे वृन्दावन ही मेरे आश्रय हों ॥७॥

मनुष्योंके लिये दुर्लभ हरिदासकी पदवी प्राप्तकर गिरिराज गोवर्द्धन जहाँ स्वयं निवास करते हैं एवं श्रीमधुसूदनकी प्रियतमा गोपाङ्गना-चमत्कारी श्री-रासमण्डल जहाँ स्थित हैं, उन अप्रकट-काननशोभा विधायक वृन्दावनके माधुर्य द्वारा उज्ज्वलकान्तिसे युक्त श्रीवृन्दाटवी स्वभावतः मेरे आश्रय हों ॥८॥

निखिल वनोंमें सर्वश्रेष्ठ वृन्दाटवीके गुणोंको स्मरण करानेवाले इस मनोहर पद्याष्टकका जो सुष्ठु-रूपसे पाठ करते हैं, वे समस्त प्रकारके दुःखोंसे छुटकारा प्राप्त करके तथा सर्वशुभकामनाओंकी सिद्धि प्राप्त कर पीताम्बरधारी श्रीकृष्णके प्रति प्रेम लाभ कर सुखसे विहार करते हैं ॥९॥

प्राकृत और अप्राकृत

हमलोग वैष्णव-साहित्यमें तथा शुद्ध वैष्णवोंके मुखसे 'अप्राकृत'-शब्द देख सुन पाते हैं। भक्ति ग्रन्थोंमें 'प्राकृत'-शब्दका भी अनेक स्थलोंमें उल्लेख पाते हैं। इन दोनों शब्दोंसे ग्रन्थकार एवं वक्ता क्या लक्ष्य करते हैं—वही यहाँ आलोच्य विषय है।

अव्यक्त प्रकृतिका स्वरूप

जो स्वयं प्रकाशित न होकर सर्वकारण-कारण रूपमें अपना अस्तित्व संपादन करती है, वही अव्यक्त प्रकृति है। किसी प्रकाशमान कार्यका कारण प्रकाशित होनेपर उस प्रकाशित कारणका कारण जाननेके लिये ज्ञानवृत्तिको स्वभावतः कौतुहल होता है। जिस समय मानव-ज्ञान किसी कार्यका कारण निर्देश करते समय कारणको प्रकाशमान नहीं देखता, उस समय उस अप्रकाशित कारणको वह अव्यक्त प्रकृतिकी संज्ञा देता है।

प्रकृतिसे उत्पन्न प्राकृत वस्तुओंके भोगसे सुख-दुःख

प्रकृतिसे उत्पन्न प्रकाशमान समस्त द्रव्य या द्रव्य सम्बन्धीय भाव प्राकृत होते हैं। जीव अपनी ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियोंद्वारा इनको ग्रहण कर भोग करता है। उससे किसी समय उनके इन्द्रियोंको सुख मिलता है और कभी दुःख।

प्रकृतिका धर्म

प्रकृतिके अन्तर्गत तीन गुण प्रकाशित हैं। उन तीनों गुणोंको रजः, सत्त्व और तम कहते हैं। रजोगुणका धर्म है—अप्रकाशित वस्तुको प्रकाशित करना। सत्त्व गुण—प्रकाशित सत्ताकी रक्षा करता है तथा तमोगुणका धर्म प्रकाशित वस्तुकी सत्ताको ध्वंस करता है। सत्त्वके प्रारम्भमें रजोगुण है तथा

उसकी दूसरी ओर पर तमोगुण है; इसलिए इन दोनों असत् गुणोंकी सत्ता प्राकृत-सत्त्वमें आबद्ध है। इन तीनों गुणोंके गुणीको—अधिष्ठातृ पुरुषको भगवान का पुरुषावतार कहा जाता है।

विष्णु—अप्राकृत और गुणातीत हैं; ब्रह्मा और रुद्र प्राकृत एवं सगुण हैं

सत्त्व गुणके ईश्वर भगवान् विष्णु हैं। सत्त्व गुणके अधीश्वर होने पर भी विष्णुको प्रकृति या जड़-फल भोग स्पर्श करनेमें समर्थ नहीं होता। परन्तु रजोगुणके अधीश्वर ब्रह्मा तथा तमोगुणके अधीश्वर रुद्र प्रकृतिके बाध्य हैं तथा विष्णुके आश्रित होते हैं। विष्णु ही प्रकृतिके अधीश्वर हैं। ब्रह्मा एवं रुद्र प्रकृति और प्राकृत पदार्थोंके पति होने पर भी प्रकृतिके अधीन होते हैं। भगवान विष्णु प्राकृत विकारको ग्रहण नहीं करते; परन्तु ब्रह्मा और रुद्र प्राकृत विकारको ग्रहण करनेके कारण विष्णुके समपर्यायमें नहीं हो सकते। विष्णु सर्वशक्तिमान हैं। इसलिये वे प्रकृतिके साथ रह कर भी उससे निर्लिप्त रहते हैं। ब्रह्मा एवं रुद्र सर्वशक्तिमान नहीं हैं। इसीलिए ब्रह्मा और रुद्रको अघटन-घटन-पटीयसी विष्णु-माया-शक्तिका पुत्र कहा जाता है। विचारशून्य अवैष्णवगण विष्णुको दूसरे गुणाधीश्वरों—ब्रह्मा और रुद्रके साथ समज्ञान करके अपराध संचय करते हैं। शास्त्रमें ऐसे विचारकी निन्दा की गयी है—

(क) "यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्॥"
(पद्मोत्तर खण्ड २३।१२)

(ख) "विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वा नारकी सः।"
(पद्मपुराण)

चौदहों भुवनोंमें आब्रह्म-स्तम्ब सब कुछ प्राकृत है

प्राकृत राज्यमें फल भोक्ता हैं—बद्ध जीव। वे कभी ब्रह्माका शरीर प्राप्त होकर देवता और कभी सूर्यकी किरणोंमें विचरण करनेवाले चेतन परमाणु बनते हैं। इन अवस्थाओंमें जीवको हम अनित्य भोगोंमें लिप्त देखते हैं। देवीधामके अन्तर्गत इन चौदह भुवनोंमें जो कुछ देखा जाता है, वह सब कुछ प्राकृत है।

अप्राकृत जीव जब प्राकृत जगतमें बद्ध होता है

जब अप्राकृत जीव बद्ध होकर चौदह भुवनोंके अन्तर्गत माया द्वारा बँधकर इतस्ततः भ्रमण करता है, उस समय वह प्राकृत अहङ्कारसे युक्त होता है तथा विभिन्न प्रकारकी कामनाओंका दास बना होता है। जीव अप्राकृत तत्त्व होनेपर भी उस समय प्राकृत, अनित्य और अनुपादेय जड़ द्रव्योंका संग्रह करता है तथा उनका भोग करता है। वह अपने पांचभौतिक शरीरको ही 'मैं' तथा शरीरसे सम्बन्धित शरीरोंको 'मेरा' मानता है। यही उसका स्वरूप-भ्रम है। इस समय वह प्राकृत भोगोपकरणों की प्राप्तिमें अपनेको सुखी मानता है तथा अप्राप्ति में दुःखी समझता है।

प्रकृति—भगवानकी बहिरंगा शक्ति है; जीव—तटस्था शक्ति है

प्राकृत पदार्थोंकी सत्ताकी मूलशक्ति प्रकृति है। जब जीव अपने निर्मल स्वरूपमें रहता है, उस समय वह जड़-भोगोंसे रहित होता है। यह उसका निजस्व तटस्थ धर्म है। गुण-प्रकृति और जीव-प्रकृति—ये भिन्न-भिन्न हैं। एक विष्णुकी बहिरङ्गा शक्ति है, दूसरी उनकी तटस्था शक्ति है। तटस्थाशक्ति-परिणत जीव, बहिरङ्गाशक्तिके गुणोंको अङ्गीकार करके बद्धावस्थामें पड़ा हुआ है।

अप्राकृत जगतमें जीवकी स्थिति

विष्णुकी अन्तरङ्गा शक्तिका परिणाम ही अप्राकृत चिज्जगत् है। वहाँ पर जो जीव रहते हैं, उनमें प्राकृत भोगबुद्धि नहीं होती। भगवान विष्णु ही वहाँके एकमात्र भोक्ता हैं। तद्रूप-वैभवके "आनुगत्यमें शुद्धजीव भगवानकी भोग्य-रूपमें सेवा करते हैं।" अप्राकृत राज्यमें जीवमें अपने सुखभोगकी अभिलाषा नहीं होती, बल्कि वे सर्वदा भगवानको कैसे सुख प्राप्त हो, इसीकी चिन्ता और इसीके अनुकूल कार्योंमें व्यस्त रहते हैं। मायिक संसारमें जिसप्रकार बद्धजीव प्राकृत अभिमानमें बद्ध होता है, उसी प्रकार अप्राकृत जगतमें मुक्त जीव 'मैं कृष्णदास हूँ'-ऐसे अभिमानसे भगवानकी नित्यसेवामें संलग्न रहकर उनको सदैव आनन्द प्रदान करते हैं;

निर्विशेषवादमें 'अप्राकृत' शब्दका अर्थ विचित्रताहीन (?) होता है

निर्विशेष मतके अनुसार प्रकृतिसे अतीत राज्य में तटस्थ भावमय निर्गुणता अवस्थित है। वहाँ कोई अप्राकृत-विचित्रता नहीं है। उनका कहना है कि माया शक्तिमें ही विचित्रता है। अतएव मायाशक्तिके राज्यसे बाहर अप्राकृत राज्यमें किसी प्रकार की विचित्रता स्वीकार करनेसे वह विचित्रता भी मायाशक्तिगत विचित्रताकी भाँति नश्वर हो जायगी। परन्तु अप्राकृत राज्यमें नश्वरता नहीं है; अतएव वहाँ किसी प्रकारकी विचित्रता वे स्वीकार नहीं करते। वे लोग 'अप्राकृत'—शब्दका अर्थ ही—"नित्यविचित्रता रहित" लगाते हैं। वे लोग प्राकृत जगतमें त्रिविध प्रकारके तापोंसे दग्ध होनेके कारण अप्राकृत जगतकी भी विचित्रताएँ ताप प्रदान कर सकती है - इसी डरसे उन्हें अस्वीकार करते हैं।

वैकुण्ठमें नाना प्रकारकी चिद्विचित्रताएँ विद्यमान हैं

वैकुण्ठमें प्राकृत गुण नहीं होते, यह बात ठीक है, परन्तु वहाँ भगवानकी अंतरङ्गा शक्ति द्वारा प्रकटित नाना प्रकारकी नित्य चिद्विचित्रताएँ और असंख्य सद्गुण प्रकाशित हैं। विशुद्ध भगवत्सेवा ही अप्राकृत राज्यमें सबसे प्रधान विशेषता है। वहाँ इस ब्रह्माण्डकी भाँति जीव प्राकृत भोगोंको नहीं भोगते। भगवत्सेवाका आनन्द भी जीवोंको वहाँ भोगमें फँसा नहीं पाता है। बद्ध जीव भी प्राकृत राज्यसे मुक्त होकर अप्राकृत राज्यकी विशेषताओंकी उपलब्धि कर सकता है।

निर्विशेष तर्क ज्ञान आदि द्वारा प्राप्त वस्तु अप्राकृत नहीं है

किसी भी प्राकृत चेष्टाद्वारा अथवा जड़ीय-चेष्टाके

विपरीत निष्क्रिय भावके द्वारा अप्राकृत विचित्रताओं का दर्शन नहीं किया जा सकता है। एकमात्र वैकुंठ वस्तुके अनुशीलनसे जीवकी भोग-वासना दूर होती है तथा अप्राकृत अनुभूति प्राप्त हो सकती है। भोग-वासनाओंके दूर हो जानेपर अप्राकृत वस्तुकी कृपासे जीवका अप्राकृत स्वरूप उदित होता है। तब वह अप्राकृत शरीरसे अप्राकृत भगवद्‌विग्रहकी अप्राकृत सेवामें संलग्न होता है। यही जीवका परमकल्याण एवं परम प्रयोजन है। ज्ञानीलोग इस विषयमें प्रवेशाधिकार नहीं पाते। उनके अध्यात्म-शब्दसे 'अप्राकृत' का कदापि बोध नहीं होता।

अप्राकृत वृन्दावनकी स्थिति

पूर्वोक्त अप्राकृत राज्य ही वृन्दावन है। परन्तु अप्राकृत वृन्दावन कहनेसे प्राकृत बुद्धिवाले भोगी मनुष्य उसे भोग करने योग्य कोई प्रदेश-विशेष समझते हैं। और निर्विशेषवादी मुमुक्षुगण उसे माया-शक्ति-रहित चिद्-विचित्रताहीन आधारमात्र समझते हैं। परन्तु यह उनके जड़ीय ज्ञानका ही परिचय है। वैसे ज्ञानके द्वारा अप्राकृत राज्यकी सीमा पर भी नहीं पहुँचा जा सकता है।

कृष्णकी अंतरंगा शक्ति परिणत चिद्-विचित्रता से पूर्ण कृष्णसेवामय त्रिपाद्-विभूतिविशिष्ट अप्राकृत भूमि ही वृन्दावन है। अप्राकृत विचित्रिता और प्राकृत विचित्रता--इन दोनोंमें किसी-किसी विषयमें समानता और किसी-किसी विषयमें असमानता भी है। वास्तवमें प्राकृत जगत—अप्राकृत जगतकी छाया है। काया और छायामें कुछ सादृश्य होता ही है। फिर भी काया—कायाहै और छाया—छाया है। अप्राकृत ही यथार्थ तत्त्व है। वही नित्य हरि-सेवामय, अविनाशी, सम्बन्ध-विशिष्ट और नित्य है।

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्‌भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर

रे मन, कृष्णनाम कहि लीजै।
गुरुके बचन अटल करि मानहि, साधु समागम कीजै॥
पढ़िये गुनिये भगति भागवत और कहा कथि कीजै।
कृष्णनाम बिनु जनमु बादिही, बिरथा काहै जीजै॥
कृष्णनाम रस बह्यौ जात है, तृषावंत ह्वै पीजै।
सूरदास हरि सरन ताकिये, जनम सफल करि लीजै॥

उपनिषद्-वाणी

[छान्दोग्य-७]

कोई शिष्य अपने हाथोंमें समिधा लेकर गुरुके समीप उपस्थित हुआ। गुरुने शिष्यको शरणागत और तत्त्व जिज्ञासु देख कर उससे पूछा—"तुम क्या जानते हो ?"

शिष्यने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"भगवन् ! मैं ऋक्, साम, यजुः, अथर्व आदि चार वेद, इतिहास, पुराणरूप पंचम वेद, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पत्तिस्थान, तर्कशास्त्र, निधिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्म-विद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, सङ्गीतविद्या आदि सब कुछ जानता हूँ, किन्तु मैं मंत्रवेत्ता या आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैंने आप जैसे तत्त्वज्ञानीके समीप सुना है कि आत्मविद् व्यक्ति शोकको पार कर लेता है। परन्तु मैं अभी शोकके अधीन हूँ। आप कृपा करके मुझे शोकसे पार कीजिए।"

शिष्यकी बात सुन कर गुरुदेवने कहा—"तुम ऋक्, साम आदि जो कुछ जानते हो, वह सब नाम ही है। अतएव तुम नामकी उपासना करो। नाम ही ब्रह्म है—ऐसा जान कर उपासना करनेसे नाममें ही गति प्राप्त होती है।"

शिष्यने फिर पूछा—"भगवन् ! नामसे भी कुछ अधिक है ?"

गुरुने उत्तर दिया—"नामसे श्रेष्ठ है—वाक्। क्योंकि वाक् ही चारों वेद, षडङ्ग, तर्क-शास्त्र, नीति-शास्त्र, चतुर्दश भुवन, देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, साधु-असाधु—सबका परिचय प्रदान करता है। यदि वाणी न होती तो धर्म-अधर्मका ज्ञान ही नहीं होता। वाणी ही सबका ज्ञान कराती है। इसलिए वाणीकी ही उपासना करो। वाणी ही ब्रह्म है।"

शिष्यने पुनः जिज्ञासा की—"भगवन् ! क्या वाणीसे भी बढ़ कर कुछ और है ?"

गुरुजीने उत्तर दिया—"हाँ, वाणीसे भी बढ़ कर मन है। जिस प्रकार हाथमें आँवलेका फल अथवा अन्य कोई भी पदार्थ लेने पर उसे मनके द्वारा ही जाना जाता है, उसी प्रकार मनकी इच्छा होने पर ही पुरुष सब कर्मोंको कर सकता है या जान सकता है। मन इहलोक या परलोककी कामना करता है और उसे प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करता है। इसलिए मन ही ब्रह्म है और मनकी उपासना करना ही कर्त्तव्य है। मनकी उपासना करनेसे पुरुष स्वेच्छा-गतिको प्राप्त कर सकता है।

शिष्यने फिर पूछा—"क्या मनसे भी बढ़कर कुछ और है ? यदि है, तो बतलानेकी कृपा करें।"

गुरुजी बोले—"मनसे भी श्रेष्ठ है—संकल्प। मनमें संकल्प उठते ही जीव उस संकल्पको पूर्ण करनेके लिये चेष्टाशील होता है और फिर वाणीको

प्रेरित करता है। अतएव मनके संकल्पमें ही स्थिति और लय है। द्युलोक, आकाश, वायु, तेज और जल—इनमें संकल्पसे ही पृथ्वी पर वर्षा होती है। वृष्टिके संकल्पमें अन्नकी उत्पत्ति होती है और अन्नमें संकल्पसे प्राण समर्थ होते हैं। प्राणमें संकल्पसे मंत्र समर्थ होता है और मंत्रमें संकल्पसे कर्ममें प्रवृत्ति होती है। कर्ममें संकल्पसे विभिन्न लोक (फल) प्राप्तिका सामर्थ्य होता है। अतएव संकल्पकी उपासना करनी चाहिए। संकल्प ही ब्रह्म हैं—ऐसा जानकर उपासना करनेसे संकल्पके प्रभावसे ध्रुव-लोकमें ध्रुव होकर--प्रतिष्ठित लोकमें प्रतिष्ठित होकर अर्थात् दुःखरहित लोकमें दुःखरहित होकर गमन करनेका सामर्थ्य लाभ किया जाता है।"

शिष्यने पूछा—"भगवन्! क्या संकल्पसे भी कुछ और बढ़ कर है ?"

गुरुजी बोले—"चित्त—संकल्पसे बढ़कर है। जीव चेतनावान होनेसे ही संकल्प करता है, मनन करता है और फिर वाणीको प्रेरित करता है। वाणी उसको नाममें प्रवृत्त कराती है। नाम और मंत्र एकरूप हैं। मंत्रमें कर्म प्रवृत्ति पैदा होती है। अतएव चित्तके रूपमें संकल्प आदि सबकी स्थिति है। चित्त-में ही लय होता है। सभी चित्तमें प्रतिष्ठित हैं और चित्तमय हैं। यदि कोई व्यक्ति बहुत कुछ जाननेवाला होकर भी अचित्तवान होता है तो लोग उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं। सभी ऐसा कहते हैं कि यह व्यक्ति विद्वान नहीं है। ज्ञानी और विद्वान होने पर अचित्तवान क्यों होगा ? परन्तु कोई व्यक्ति अल्पज्ञ होने पर भी यदि चित्तवान है, तो लोग उसके प्रति आकृष्ट होते हैं और उसके निकट श्रवण करना चाहते हैं। अतएव चित्त ही एकमात्र आश्रय है। चित्त ही आत्मा है। चित्त ही सबकी प्रतिष्ठा है। इसलिये चित्तकी ही उपासना करनी चाहिए। चित्त ही ब्रह्म है - ऐसा जानकर उपासना करनेसे ध्रुवलोकमें ध्रुव होकर प्रतिष्ठित लोक (फल) की प्राप्ति होती है। चित्तकी गतिके अनुसार जीवकी स्वेच्छा गति होती है।"

शिष्यने पुनः जिज्ञासा की—"भगवन्! चित्तसे भी बढ़ कर यदि कुछ है, तो उसे बतलानेकी कृपा करें।"

गुरुने उत्तर दिया--"ध्यान ही चित्तसे बढ़ कर है। पृथ्वी, द्युलोक, अन्तरीक्ष, जल, पर्वत, देवता, मनुष्य—सभी ध्यान करते हैं। मनुष्य ध्यानके प्रभावसे ही महिमावान होता है। ध्यानरहित क्षुद्र व्यक्ति झगड़ालु और परनिन्दक होता है। ध्यानके प्रभावसे ही सब प्रकारका सामर्थ्य प्राप्त होता है। अतएव ध्यानकी ही उपासना करनी चाहिये। ध्यान ही ब्रह्म है--ऐसा जान कर उपासना करनेसे ध्याता-की ध्यानकी गति तक स्वच्छन्द गति हो जाती है।"

शिष्यने फिर पूछा--"भगवन्! ध्यानसे बढ़ कर कुछ और हो तो उसे बतलानेकी कृपा करें।"

गुरुजी बोले--"विज्ञान ही ध्यानसे बढ़ कर है। विज्ञानके प्रभावसे ऋक्, साम आदि चार वेद, इतिहास पुराण आदि पंचम वेद, शिक्षा-कल्प आदि वेदांग, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र और धनुर्वेद आदि समस्त विद्याओंको जाना जा सकता है। अतएव विज्ञानकी उपासना ही कर्त्तव्य है। विज्ञान ही ब्रह्म

है—ऐसा जानकर उपासना करनेसे विज्ञानवान् लोककी प्राप्ति होती है। जितनी दूर विज्ञानकी गति होती है, वहाँ तक उपासककी स्वच्छन्द गति होती है।"

शिष्यने फिर पूछा—भगवन्! क्या विज्ञानसे भी बढ़ कर कुछ और है? यदि हो तो बतलानेकी कृपा करें।"

गुरु बोले—"बल ही विज्ञानसे श्रेष्ठ है। जीव बलवान होनेपर ही उन्नति लाभ कर सकता है। बलके द्वारा परिचर्या करनेवाला होता है। परिचर्या करनेवाला होने पर ही उपसदन् करने वाला (शरणागत) होता है और उपसदन करने पर ही दर्शन करनेवाला होता है, श्रवण करनेवाला होता है, मनन करनेवाला होता है, बोधवान होता है, कर्त्ता और विज्ञाता होता है। बलके द्वारा ही पृथ्वी, अन्तरीक्ष, मनुष्य, पशुपक्षी आदिकी स्थिति है। अतएव बल ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर उपासना करनेसे पुरुष स्वेच्छागति प्राप्त करता है।"

शिष्यने फिर पूछा—"क्या बलसे बढ़कर कुछ और है?"

गुरुजीने कहा—अन्न ही बलसे बढ़ करके है। यदि अन्न न मिले और किसी प्रकार जीवित भी रहा जाय तो अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता और अबोद्धा हो जाना पड़ता है। इसलिये अन्न ही ब्रह्म है और उसीकी उपासना करनी चाहिए।"

फिर अन्नसे बढ़ कर क्या है—पूछने पर गुरुने बताया कि अन्नसे बढ़ कर जल है, क्योंकि वर्षा नहीं होनेसे अन्न पैदा नहीं होता। जलसे श्रेष्ठ तेज है; क्योंकि जब तेज वायुमण्डलको उत्तप्त करता है, तभी वर्षा होती है। अतएव तेज ही ब्रह्म है। तेजसे भी आकाश श्रेष्ठ है; क्योंकि तेजकी उत्पत्ति आकाशसे ही है। आकाशमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि और विद्युतकी स्थिति है। आकाशसे भी श्रेष्ठ स्मरण है; क्योंकि स्मरण नहीं करनेसे आकाश आदिकी स्थिति-का अनुभव नहीं होता।

स्मरणसे भी आशा श्रेष्ठ है। जीव आशासे अनुप्राणित होकर स्मरण या कार्य करता है। उससे भी प्राण श्रेष्ठ है। प्राण नहीं रहनेसे कुछ भी नहीं रहता। प्राणने ही समस्त जगतको बचा रखा है। प्राण से भी सत्य श्रेष्ठ है। जब जीव सत्यको विशेष रूपसे जान लेता है, तब ही वह सत्य बोलता है। इसलिये विज्ञानको ही जानना चाहिए। मनन करनेसे ही विशेष ज्ञान होता है। मनन नहीं करनेसे विज्ञान-की प्राप्ति नहीं होती। फिर श्रद्धाके अभावमें मनन नहीं होता। इसलिये श्रद्धाका ज्ञान होना आवश्यक है। निष्ठासे श्रद्धा होती है और कृतिसे निष्ठा होती है। इसलिये कृतिमान होना उचित है। सुख मिलने से ही कार्य करनेकी प्रवृत्ति होती है। अतएव सुखके सम्बन्धमें ही जिज्ञासा होनी चाहिए।

सुख क्या है?—भूमा ही सुख है। अतएव भूमाके सम्बन्धमें ज्ञान होना आवश्यक है। जहाँ कुछ और नहीं देखता, और नहीं सुनता, तथा और कुछ नहीं जानता, वह भूमा है। किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है, कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वही अमृत

है। उसके अतिरिक्त सब कुछ अल्प है और वही मर्त्य है।"

इतना सुनकर शिष्यने फिर पूछा—"भगवन् ! भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ?

गुरुजीने कहा—"भूमा अपनी महिमामें ही प्रतिष्ठित होता है। गौ, अश्व, हाथी, सुवर्ण आदि दूसरे पदार्थ दूसरे पदार्थोंमें प्रतिष्ठित होते हैं; परन्तु भूमाका कोई दूसरा आधार नहीं है, वह अपने आधार पर ही स्थित है। साथ ही दूसरे भी उसके आधार पर ही स्थित हैं। भूमा ऊपर है, नीचे है, दक्षिण ओर है, बायीं ओर है, आगे है, पीछे है—सर्वत्र है, भूमा ही आत्मा है। भूमाका दर्शन करनेवाला, मनन करनेवाला और विज्ञानवान व्यक्ति ही आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानन्दी होता है। भूमा ही स्वराट है, उसकी स्वच्छन्द गति होती है। जो भूमाको नहीं जानता, वह क्षय होनेवाले लोकको प्राप्त होता है, और उसकी स्वच्छन्द गति नहीं होती। आत्मविद् व्यक्ति ही सब कुछ प्राप्त होता है। परन्तु आहार शुद्धि हुए बिना आत्म-दर्शन नहीं होता। आहार शुद्धि होनेसे सत्त्वशुद्धि होती है अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे ध्रुवास्मृति और ध्रुवास्मृतिसे हृदयकी सारी ग्रंथियाँ सदाके लिये खुल जाती हैं। अतएव सत्त्व, रज और तमोगुणका आहार त्यागकर भगवत् प्रसाद ग्रहण करना चाहिए।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति भूदेव श्रौती महाराज

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर ! नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम ॥

—पद्यावली

हे भृगुवर ! मधुरसे भी मधुर, मङ्गलोंका भी मङ्गलकारक, सम्पूर्ण वेदरूप लताका सुन्दर फल एवं चैतन्य स्वरूप श्रीकृष्ण-नामका भावसे, अभावसे अथवा कुभावसे, किसी प्रकार भी यदि एकबार गायन कर लिया तो जीवमात्रको अनायास संसारसागरसे तार देता है।

श्रीमद्भागवतका रचयिता तथा रचनाकाल

श्रीमद्भागवतके रचनाकार एवम् रचनाकाल–इस विषयमें विगत कई वर्षोंसे कुछ व्यक्ति नाना प्रकारकी शंकाएँ उठा रहे हैं, कुछ लोग श्रीपारीखजीके आधार पर यह सिद्ध करनेका प्रयास करते हैं कि 'भागवत' नाम ४५४ ई० से पूर्व नहीं मिलता है। कुछ लोग इसे परम वैष्णव महाकवि श्री बोपदेव कृत बतलाकर तेरहवीं शतीकी रचना सिद्ध करनेके लिए कटिबद्ध हैं; कुछ नवीन अन्वेषक तो अत्यन्त हास्यास्पद उक्ति प्रस्तुत करते हैं कि भागवतमें वर्णित रास-लीलादि प्रसङ्ग १६ वीं शतीके हैं।

उक्त सभी शंकाओंका समाधान यथेष्ट रूपसे "कल्याण" वर्ष १६ के भागवतांक (प्रथम खंड) में विद्वद्वर श्रीशान्तनु बिहारी द्विवेदी जैसे प्रतिभा सम्पन्न लेखकोंने किया है। श्रीद्विवेदीजीके विद्वता पूर्ण उक्त लेखको पढ़नेके उपरान्त किंचिन्मात्र भी शंका नहीं रह जाती है कि श्रीमद्भागवत श्रीवेदव्यास कृत है और इसका रचनाकाल आजसे ५००० वर्ष पूर्व है, किन्तु अपने ही तर्ककी प्राथमिकता देनेवाले महानुभावोंमें इतना धैर्य कहाँ है कि वे दूसरेकी बातको सुनकर सन्तोष प्राप्त कर सकें।

मुझे अनेकों पुष्ट प्रमाण इस प्रकारके प्राप्त हुए हैं कि जिनके आधार पर मैं दृढ़तापूर्वक यह कह सकता हूँ कि श्रीमद्भागवतभगवान् वेदव्यास द्वारा प्रणीत है और इसका रचनाकाल आजसे ५००० वर्ष पूर्व ही है। शंका समाधानार्थ कतिपय प्रमाण अधोलिखित हैं:—

श्रीमद्भागवत और श्रीवेदव्यास—श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्ध, सप्तम अध्याय, श्लोक २-३ के पढ़नेके उपरान्त यह पूर्ण रूपेण स्पष्ट हो जाता है कि इस महाग्रन्थकी रचना किसके द्वारा और किस स्थल पर हुई ? उक्त श्लोकमें ऐसा वर्णन मिलता है कि सरस्वती (ब्रह्म नदी) के पश्चिमी तटपर शम्याप्रास नामक आश्रममें श्रीवेदव्यासने श्रीमद्भागवतकी रचना की, उस आश्रमको श्रीमद्भागवतमें बदरीवन (बद्रीकाश्रम) कहा गया है:—

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे।
शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्द्धनः॥
तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौमनः स्वयम्॥

आज भी श्रीबद्रीकाश्रमकी व्यास—गुफा इसका ज्वलन्त प्रमाण हमें दे रही है कि उसी स्थल पर श्रीवेदव्यास भगवान्ने इस महाग्रन्थकी रचना की। अतः तामिल प्रदेशको श्रीमद्भागवतका रचना-स्थल बतलाना एक भयंकर भूल है।

श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन मिलता है कि पुराण, महाभारत, वेदान्द सूत्रोंकी रचना और वेदों का विभाग करनेके उपरान्त भी जब श्रीवेदव्यास को आत्म-तृप्ति न हुई तो देवर्षि श्रीनारदने उनके दुःख निवारणार्थ उन्हें उपदेश दिया और उन्हीं उपदेशोंके अनुसार समाधिकी अवस्थामें श्रीभगवन् का, उनकी विराट शक्ति मायाका, माया-मुक्त और

मायाबद्ध जीवोंका दर्शन श्रीवेदव्यासने किया। उन्होंने समाधिमें यह भी देखा कि जीव भगवान् श्रीकृष्णकी विशुद्ध भक्तिका अवलम्बन कर मायाको जीतकर, शोक, मोह, भयादिसे सर्वदाके लिए मुक्त हो रहे हैं। अपनी इसी समाधिकी उपलब्धिको ही श्रीवेदव्यासजीने श्रीमद्भागवत महापुराणका रूप दिया और इसको अपने निवृत्ति-परायण पुत्र और शिष्य श्रीशुकदेवको पढ़ाया:--

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम्॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते॥
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥
स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम्।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः॥
(श्रीमद्भागवत १।७।४,५,६,८)

किसी भी ग्रन्थके रचनाकार, रचना-स्थल, रचना-काल आदिको ज्ञात करनेका सबसे सरल एवं प्रामाणिक साधन अन्तःसाक्ष्य अथवा कृतिकारकी कृति ही हो सकती है। जिन महानुभावोंकी श्रद्धा श्रीमद्भागवतमें है, वे उसकी प्रत्येक पंक्तिपर दृढ़ता पूर्वक विश्वास कर सकते हैं। श्रीमद्भागवतमें उसके रचियता श्रीवेदव्यास और रचना-स्थल श्रीबद्रीकाश्रम स्पष्ट है, इसके लिए अन्यत्र ढूँढ़-खोजकी आवश्यकता नहीं है।

श्रीशंकराचार्य कृत "प्रबोध-सुधाकर" बहुत प्रसिद्ध और प्रमाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके भावोंका मूलाधार श्रीमद्भागवत ही है। उसमें वर्णित ब्रह्मा द्वारा गोवत्सादि-हरण, गायोंका प्रेम देखकर श्रीबलदेवका आश्चर्यान्वित होना आदि अनेकों वर्णन जो श्रीकृष्णकी बाल-लीलाओंसे सम्बन्धित हैं,--भागवतके ही आधार पर हैं। उक्त ग्रन्थमें श्रीशंकराचार्य जीने अनेकस्थलों पर तो स्पष्ट रूपसे ही यह कह दिया है कि "यह युक्ति व्यासकी है।" दृष्टान्त हेतु यहाँ एक श्लोक उद्धृत है:—

"कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्य पिबत स्तनम्।
(श्रीमद्भागवत)

कापि च कृष्णायन्ती कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः।
अपिबत् स्तनमिति साक्षाद् व्यासो नारायणः प्राह॥"
(प्रबोधसुधाकर)

श्रीशङ्कराचार्यजीने श्रीमद्भागवतके भावोंको उक्त श्लोकमें अक्षरशः ग्रहण ही नहीं किया, वरन् स्पष्ट ही "व्यासो नारायणः प्राह" व्यास भगवान्ने कहा है, भी कह दिया।

अतः इस दृष्टिसे भी यही ज्ञात होता है कि श्रीमद्भागवत व्यास कृत ही है।

रचनाकाल

परीक्षित आदि का भागवत श्रवण :—श्रीवेदव्यासके पुत्र एवं शिष्य श्रीशुकदेवजीने महाराज परीक्षितको श्रीमद्भागवतका श्रवण कराया, यह प्रसङ्ग पुराण प्रसिद्ध है। महाराज परीक्षितके राज्य-

कालमें ही कल्याब्द प्रारम्भ होता है। आजकल कल्याब्द ५०६३ चल रहा है। इस प्रकार महाराज परीक्षितका राज्यकाल आजसे ५००० वर्षका सिद्ध होता है।

महाराज परीक्षितके भागवत-कथा सुननेके २०० वर्ष बाद (कल्याब्द २३० आषाढ़ शुक्ला नवमी) को धुन्धुकारीने इस पावन कथाका श्रवण गोकर्णके श्रीमुख द्वारा किया था। इसके ३० वर्ष और व्यतीत होने पर अर्थात् कल्याब्द २६० में इस भागवत् कथाको सनत्कुमारादिने सुनाया था। (द्रष्टव्य-भागवत माहात्म्य, अध्याय ६)।

अतः आजसे ५००० वर्ष पूर्व ही भागवत-कथा का श्रवण प्रारम्भ हो चुका था। जब श्रीमद्‌भागवतकी रचना आजसे ५००० वर्ष पूर्व हुई होगी-तभी उसका श्रवण भी महाराज परीक्षितादिने किया होगा।

तत्कालीन पुराणोंमें उल्लेखः-श्रीवेदव्यास जीने अन्यान्य पुराणोंमें भी श्रीमद्‌भागवतको सर्वश्रेष्ठ पुराण बतलाते हुए इसका उल्लेख किया है। श्रीपद्मपुराणके उत्तरखण्डमें श्रीमद्‌भागवत माहात्म्य का वर्णन इतना विस्तृत रूपमें है कि वह लगातार ६ अध्यायों तक भी पूर्ण नहीं हुआ है। एक स्थल पर तो स्पष्ट ही "पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद्‌भागवतम परम्" कहा गया है।

गरुड पुराणमें उल्लेख मिलता है कि श्रीमद्‌भागवत ब्रह्मसूत्रका अर्थ है, महाभारतका तात्पर्य है, गायत्रीका भाष्य है तथा इसमें वेदोंका अर्थ परिस्फुट है। वेदोंमें जिस प्रकार सामवेद श्रेष्ठ है, उसी प्रकार पुराणोंमें श्रीमद्‌भागवत भी श्रेष्ठ हैः—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः।
गायत्री-भाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ परिबृंहितः॥
पुराणानां सामरूपः साक्षाद्‌भागवतोपितः।
ग्रन्थोऽष्टादश साहस्रः श्रीमद्‌भागवताभिधः॥

(गरुड़पुराण)

स्कन्दपुराणमें श्रीमद्‌भागवतको सर्वश्रेष्ठ बतलाते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति यत्नपूर्वक प्रतिदिन श्रीमद्‌भागवतका पाठ करता है उसे अष्टादशपुराण पाठ करनेका फल मिलता हैः—

यः पठेत् प्रयतो नित्यम् श्लोकं भागवतं मुने।
अष्टादश पुराणानां फलम् प्राप्नोति मानवः॥

(स्कन्द पुराण)

इसी प्रकार ब्रह्म-वैवर्त, आदि-वाराह, मत्स्यादि पुराणोंमें भी श्रीमद्‌भागवतका उल्लेख यथेष्टरूपमें मिलता है। यहाँ तक कि भागवत शब्दके अर्थसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका वर्णन प्रायः सभी शास्त्रोंमें हैः—

भा+ग+व+त=भागवत।

भा=भाति सर्व लोकेषु=जो सर्वलोकोंमें प्रकाशित हैं।

ग=गीयते नारदादिषु=जिसका गान नारदादि तत्त्वदर्शी भगवद्‌भक्तों द्वारा किया जाता है।

व=वर्तते सर्वशास्त्रेषु=सब शास्त्रोंमें जिसका वर्णन है।

त=तद् भागवतं विदुः=उसीको भागवत कहते हैं।

यदि श्रीमद्‌भागवतकी भी रचना अन्य पुराणों के साथ ही न हुई होती तो इसका उल्लेख अन्यान्य समसामयिक पुराणोंमें न मिलता। यहाँ एक बात और उल्लेखनीय यह है कि एक स्थल पर श्रीमद्-भागवतकी कथा हो रही थी जिसके श्रवणार्थ समस्त वेद, वेदान्त, मन्त्र, संहिता, सप्तदश पुराणादि सहस्रों ग्रन्थ उपस्थित हुए:—

वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तंत्राणि संहिताः।
दशसप्त पुराणानि सहस्राणि तदाऽऽययुः॥
(पद्म पुराण)

उक्तश्लोकमें वेद, वेदान्त, मन्त्र, तन्त्र और संहिताओंकी संख्या नहीं दी हुई है, किन्तु "दशसप्त पुराणानि" द्वारा १७ पुराणोंके उपस्थित होनेकी बात कही गई है। यदि श्रीमद्‌भागवत १८ वाँ पुराण न होता तो यहाँ भी वेद, वेदान्त, मन्त्र, तन्त्र और संहिताकी ही तरह "पुराणानि" शब्द ही लिखा जाता। इस प्रश्न पर विचार कीजिये कि १७ पुराण तो कथा श्रवणार्थ प्रस्तुत हुए और १८ वाँ क्यों उपस्थित नहीं हुआ ? यह अठारहवाँ पुराण श्रीमद्-भागवत यहाँ पहिलेसे ही उपस्थित है जिसकी कथा श्रवण करनेके लिये समस्त वेद, वेदान्त, मन्त्र, तन्त्र संहिता, १७ पुराण और हजारों ग्रन्थ उपस्थित हुए हैं।

अतः श्रीमद्‌भागवत अन्य पुराणोंका समकालीन और आजसे ५००० वर्ष पूर्वकी रचना है।

श्रीविग्रहोंका पूजन—श्री राधा-कृष्णकी उपासनाका मूलस्रोत श्रीमद्‌भागवत ही है, यह सर्व-मान्य है। भगवान् श्रीकृष्णके व्रजसे अन्तर्द्धान होनेके पश्चात् ही उनके प्रपौत्र वज्रनाभने महाराज परीक्षित और शाण्डिल्य ऋषिकी सहायतासे व्रजके जिन-जिन स्थानों पर भगवान् श्रीकृष्णने जो जो लीलाएँ की थीं, उन सभी स्थलोंका पूर्ववत् ही नाम-करण किया और उन स्थलों पर श्रीविग्रहोंकी स्थापनाकी एवं कुण्डोंका निर्माण आदि किया। श्री-वृन्दावनके प्रसिद्ध गोविन्दजी, गोपीनाथजी, मदन मोहनजी और श्रीगोपेश्वर महादेवजीके मन्दिरोंके श्रीविग्रह आज भी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। (द्रष्टव्य-स्कन्द पु०, वि० खं०, भा० म० अध्याय प्रथम और द्वितीय)।

महाराज परीक्षितको श्रीशुकदेवजीने कलियुग के प्रारम्भ होनेके ३० वर्ष बाद भागवत कथा सुनाई थी। इस प्रकार परीक्षित महाराजका काल जैसा कि हम पहिले निश्चित कर चुके हैं, ५००० वर्ष पूर्व ही सिद्ध होता है। अतः इन श्रीविग्रहोंकी स्थापना एवं उपासना-काल भी महाराज परीक्षितका काल अथवा आज से ५००० वर्ष पूर्व ही होगा। चूँकि इन श्रीविग्रहोंकी उपासनाका मूलाधार श्रीमद्‌भागवत ही है इसलिये श्रीमद्‌भागवतका रचनाकाल भी आजसे ५००० वर्ष पूर्वके बादका नहीं हो सकता।

पुरातत्वका आधार—पहाड़पुर जिला राज-शाही, बंगालकी खुदाई करते समय श्रीराधाकृष्णकी एक मूर्ति प्राप्त हुई है। पुरातत्व वेत्ताओंने उस मूर्ति का समय पंचम शतक निश्चित किया है, इस दृष्टि से भी श्रीमद्‌भागवत आजसे कमसे कम २००० वर्ष पूर्व की ही रचना सिद्ध होती है। श्रीबलदेव उपाध्यायजीने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ भागवत सम्प्रदाय

पृ० १५४ में लिखा है कि "भागवत कमसे कम २००० वर्ष पुराना है।"

सन् १६४१ में लोई बाजार, वृन्दावनमें श्रीवसन्ती देवी धर्मशालाकी नींवकी खुदाई करते समय दस फुटकी गहराई पर २ प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जिन्हें पुरातत्व संग्रहालय, मथुराके तत्कालीन अध्यक्ष श्रीकृष्णदत्तजी बाजपेयीने मथुराके पुरातत्व संग्रहालयमें सुरक्षित किया है। यदि कोई सज्जन इन मूर्तियोंको देखना चाहें तो इनकी क्रम-संख्या क्रमशः २८८७ और २८८८ है। इनमें प्रथम मूर्ति ८ फुट ऊँची है और लाल बालूके पत्थरकी बनी है। यह श्रीकृष्ण की प्रतिमा ज्ञात होती है। श्रीबाजपेयीजी इस मूर्ति-को ईसाकी प्रथम शतीकी कृति बतलाते हैं।

दूसरी मूर्ति सवा चार फुट ऊँची है। यह भी लाल बालूके पत्थरकी बनी हुई है। इसके मस्तक पर श्रीवल्लभ सम्प्रदायका तिलक लगा हुआ है जोकि सम्भवतः बादमें बनाया गया है। यह मूर्ति भी ईसाके प्रथम शतीके बादकी नहीं कही जा सकती है।

इसके अतिरिक्त भी पुरातत्व-संग्रहालयोंमें अनेकों प्रतिमाएँ ऐसी देखने को मिलती हैं, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि यहाँ श्रीविग्रहपूजा ईसाके प्रथम सम्राट्के बहुत पूर्व भी व्यापक हो चुकी थी। मथुरा पुरातत्व संग्रहालयकी निम्न-मूर्तियाँ इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय हैं:—

(१) कुबेरकी मूर्ति—यक्षाधिपति महाराज कुबेर एक पर्वत शिला पर बैठे हुए हैं। इस मूर्तिका समय ईसाकी प्रथम शती निर्धारित किया गया है।

(२) ब्रह्माजीकी प्रतिमा—इस प्रतिमामें ब्रह्माजी के ३ मुँह आगेकी ओर और एक मुँह पीछेकी ओर है। दाढ़ी भी दिखाई गई है। इस मूर्तिका समय ३००ई० माना गया है।

(३) कुषाण और गुप्तकालीन बहुतसी देव-मूर्तियाँ उक्त संग्रहालयमें सुरक्षित हैं।

उक्त श्रीविग्रहोंके आधार पर भी यही स्पष्ट होता है कि ईसासे पूर्व ही हमारे यहाँ व्यापक रूपमें श्रीविग्रहसेवा प्रचलित थी। यह हम कह चुके हैं कि इन श्रीविग्रहोंकी स्थापना, उपासनादिका मूल श्रीमद्-भागवत ही है।

अतः जो लोग श्रीपारीखजीके इस वाक्य पर कि "भागवतका सर्वप्रथम उल्लेख ४५४ ई० में एक जैन ग्रन्थमें मिलता है" भागवतको पंचम व षष्ठ शतीकी रचना मानते हैं, नितान्त भ्रममें हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि श्रीपारीखजीने उस जैन ग्रन्थके नामका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है कि जिसके आधार पर वह भागवतका सर्व-प्रथम उल्लेख ४५४ ई० में सिद्ध करते हैं। इसलिये बिना किसी पुष्ट प्रमाणके केवल कल्पनाके ही आधार पर भागवतको ४५४ ई० के बादकी या छठी शताब्दी की रचना नहीं कहा जा सकता है।

गौड़पाद भागवत—श्रीशंकराचार्यजीके दादा गुरुदेव श्रीगौड़पादाचार्यजीने "पंचीकरण व्याख्या" और "उत्तरगीताकी टीका" लिखी है, इन दोनों ग्रन्थोंका विशिष्ट सम्मान श्रीशंकराचार्यजीके सम्प्रदाय में आज भी है। इस अद्वैत सम्प्रदायकी शिष्य-परम्परानुसार श्रीवेदव्यास-नन्दन शुकदेवके शिष्य श्रीगौड़पादाचार्य कहे जाते हैं। वह प्रसिद्ध योगी

और दीर्घ जीवी थे। वह श्रीशंकराचार्यके गुरुदेव श्रीगोविन्दपादके गुरु थे। श्रीशंकराचार्यजीका काल यदि हम सप्तम शताब्दी भी मानें (सम्प्रदाय और मठोंके आधार पर उनका काल ईसाकी प्रथम शती बताया जाता है) तो भी उनके दादा गुरुदेवका समय छठी शतीके बादका कभी भी नहीं हो सकता है। (द्रष्टव्य-शंकर दिग्विजय अनुवादक पं० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ सं० १८)

श्रीगौड़पादाचार्यके "पंचीकरण व्याख्या" में श्रीमद्भागवतके १।३।१(प्रथम स्कन्ध, तृतीय अध्याय, प्रथम श्लोक) का स्पष्ट उल्लेख है, अपनी "उत्तर-गीताकी टीका" में तो उन्होंने श्रीमद्भागवतका एक पूरा श्लोक ही उद्धृत कर दिया है:—

"तदुक्तम् भागवते—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल- बोध- लब्धये।
तेषामसौक्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(भागवत १०।१४।४)

श्रीशंकराचार्य और भागवतः—कतिपय अन्वेषकोंने तो यह भी कहनेमें संकोच नहीं किया कि "शंकराचार्य व रामानुजाचार्यने भागवतको महत्व नहीं दिया है एवं भागवतकी रचना तामिल प्रदेशमें हुई थी।"

इन दोनों शंकाओंका समाधान हम इसी लेखमें कर चुके हैं कि श्रीमद्भागवतके आधार पर उसका रचनास्थल शम्याप्रास आश्रम (बद्रीकाश्रम) ही है। जहाँ तक श्रीशंकराचार्यके श्रीभागवतको महत्व न देनेका प्रश्न है, वह भी श्रीशंकराचार्य कृत "प्रबोध सुधाकर" का उद्धरण "व्यासो नारायणः प्राह" देकर हम स्पष्ट कर चुके हैं कि उन्होंने श्रीमद्भागवतको पर्याप्त महत्व देकर अनेकों स्थलों पर उसके भावोंको अक्षरशः ग्रहण किया। इसके अतिरिक्त भी श्रीशंकराचार्यजीने अनेकों श्लोकों द्वारा श्रीमद्भागवतका महत्व स्वीकार किया है, जिसका उल्लेख "भागवतांक" पृ० ५६ में विस्तारपूर्वक देखनेको मिलता है। स्थानाभावके कारण कतिपय श्लोकोंका उल्लेख यहाँ दिया जाता है:—

(अ) स आश्रमः परं ब्रह्म परमात्मा परात्परः
इति भागवते।
(वासुदेव सहस्रनामावली प्रथम शतक)

(आ) पश्यन्त्यदो रूपावदभ्रचक्षुषा।
(वा० स० प्र० शतक)

(इ) परमहंसधर्मो भागवते पुराणे कृष्णेनोद्धवायोपदिष्टः॥
(सर्व-सिद्धान्त-संग्रह)

श्रीशंकराचार्यजीका "गोविन्दाष्टक" एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें वर्णित—

मृत्स्नामत्सीहेति यशोदाताडन शैशव संत्रासम्।
व्यादितवक्त्रालोकित लोकालोकचतुर्दश लोकालिम्॥

श्लोकका मूल प्रसंग श्रीमद्भागवतके मृत्तिका भक्षणके ही आधार पर है। गोविन्दाष्टकके उक्त श्लोकको श्रीमद्भागवतके निम्न श्लोकसे मिलकर देखिये:—

यशोदा भयसम्भ्रान्त प्रेक्षणाक्षमभाषत।
कस्मात्त्वमृदमदान्तात्मन भवान् भक्षितवान रहः।
सातत्र ददृशे विश्वं जगत स्थास्नु च खं दिशः।
(श्रीमद्भा० १० म स्कन्ध ८ वां अध्याय)

यदि श्रीमद्भागवतकी रचना श्रीगौड़पादाचार्यसे पूर्व न हुई होती तो उसका उल्लेख श्रीआचार्यजीके ग्रन्थों एवम् उनके शिष्योंके ग्रन्थोंमें होना असम्भव था। यह हम लिख चुके हैं कि श्रीगौड़पादाचार्य योगी और दीर्घजीवी थे। वह श्रीव्यासनन्दन श्रीशुकदेवके शिष्य थे। श्रीशुकदेवका काल आजसे ५०००-वर्ष पूर्व निश्चित है। इसलिए उनके शिष्य श्रीगौड़पादाचार्य दीर्घजीवी और योगी होनेके कारण सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहे होंगे, इस दृष्टिसे भी श्रीमद्भागवत ईसाके पूर्वका ही ग्रन्थ ज्ञात होता है।

श्रीरामानुजाचार्य और भागवत—श्री सम्प्रदायके प्रधान श्रीरामानुजाचार्यने अपने "वेदान्त-संग्रह" निबन्धमें श्रीमद्भागवतका स्थान सात्त्विक पुराणोंके अन्तर्गत माना है और इसके श्लोकोंकी संख्या भी १८००० बतलाई है, (द्रष्टव्य—भागवतांक, प्र० खं० पृष्ठ ५७) इसके अतिरिक्त "वेदस्तुति" (दशमस्कन्ध, अध्याय ८७) और "एकादश स्कन्ध"के नामसे भी श्रीरामानुजाचार्यजीने श्रीमद्भागवतके श्रीवचनोंको ग्रहण किया है। उनका जन्म १०१७ ई० है। इसलिए श्रीरामानुजाचार्यके बादकी रचना तो भागवत हो ही नहीं सकती है! जबकि कुछ नवीन अन्वेषक श्रीमद्भागवतको तेरहवीं शताब्दीकी रचना सिद्ध करने पर तुले हुए हैं।

परम वैष्णव श्रीवोपदेव—श्रीभागवतको जिस बोपदेवकी रचना कुछ लोग बतलाते हैं, उस बोपदेवका परिचय श्रीमधुसूदन गो० के निम्न श्लोकोंसे प्राप्त होता है :—

हरिलीला विवेकोयं कामराजस्य वेश्मनि।
निकटे रचयां चक्रे तुष्ट्यै हेमाद्रिणां सताम्॥
अतत्त्वे तत्त्वधीर्येषां तत्वे चातत्वधीर्नृणाम्।
न तावानन्दयत्येता बोपदेवस्य सूक्तयः॥

अर्थात् कामराजके किसी समीपवर्ती घरमें, हेमाद्रि नामक मंत्रीके सन्तोषार्थ बोपदेवने इस "हरिलीला" की रचना की।

श्रीबोपदेवने भी स्वयं अपने नगर, गुरु और पिताका थोड़ा सा परिचय अपने "बोपदेव शतक" नामक वैद्यक ग्रन्थमें इस प्रकार दिया है कि वरदा नामक तट पर "सार्थ" नगर सब देशोंमें श्रेष्ठ नगर है। उसमें देवोंके समान वैभव वाले एक सहस्र ब्राह्मण निवास करते हैं। उन सब ब्राह्मणोंमें दो ब्राह्मण सर्वोत्तम हैं, जिनका नाम धनेशदेव और केशवदेव है, यह कविराज बोपदेव वैद्यराज धनेशदेवके शिष्य और केशवदेवके पुत्र हैं :—

देशानां वरदातटं वरमतः सार्थाभिधानम् महा।
स्थानं देवपदास्पदाग्र जगणाग्रण्यं सहस्रम् द्विजाः॥
तत्रामीषु धनेश केशव विदौ वैद्यौ वरिष्ठौ क्रमात्।
चक्रे शिष्य सुतस्तयोः कृतिमिमां श्रीबोपदेवः कविः॥

श्रीमधुसूदन गो० जीने "कृत्स्नस्यास्य ग्रन्थस्य-शतम् मुनिरसोत्तरम्" कह कर श्रीबोपदेवके इस ग्रन्थके श्लोकोंकी संख्या १७६ बतलाई है।

श्रीबोपदेव कृत "हरिलीला" (हरिलीलामृतं) को ही भागवत तत्त्व या भागवतानुक्रमणिका भी कहते हैं (देखिये—श्रीवैद्यनाथ शास्त्री द्वारा लिखित भागवत तत्त्वकी भूमिका)। उन्होंने किसी नवीन

भागवतकी रचना नहीं की; वरन् वेदव्यास कृत श्रीमद्भागवतके तत्त्व वर्णनार्थ ही उक्त भागवतानुक्रमणिकाकी रचना हेमाद्रिको तृप्त करनेके लिए की है, इसीको कुछ लोग बोपदेव कृत भागवत कहते हैं।

इदं भागवतं नाम निर्मितं व्यास सम्मितम्।
बोपदेवेन प्राज्ञेन मंत्रि हेमाद्रितुष्टये ॥

हरिलीला ग्रन्थके "भागवततत्त्वोक्तौ त्रयः" से स्पष्ट होता है कि श्रीबोपदेवने भागवत-तत्त्व पर तीन ग्रन्थोंकी रचना की; जिनमें (१) हरिलीला, (२) मुक्ताफल और (३) श्रीमद्भागवतकी टीका है। प्रथम दो ग्रन्थ छपे हुए मिलते हैं।

मेरे पास बोपदेव कृत उक्त "हरिलीला" (भागवततत्त्वम्) की सन् १६०२ ई० की छपी हुई एक प्रति है जिसके प्रथम श्लोकसे स्पष्ट होता है कि कोई विप्रवर, वेद वेदाङ्गके ज्ञाता पं० बोपदेवने श्रीमद्भागवतके ही उचित प्रयोजनको व्यक्त करते हुए मंत्री–हेमाद्रिके सन्तोषार्थ "हरिलीला" नामक ग्रन्थकी रचना करते हैं और श्रीमद्भागवतको एवं उसके स्कन्ध और अध्यायों आदिके अर्थोंका निरूपण करते हैं:—

श्रीमद्भागवतस्कन्धाध्यायार्थादि निरूप्यते।
विदुषा बोपदेवेन मंत्रि हेमाद्रि तुष्टये ॥

उक्त श्लोककी व्याख्या करते हुए श्रीयुत् पं० वैद्यनाथजी शास्त्रीने लिखा है कि "रामचन्द्र नामक राजाके हेमाद्रि नामक प्रधान मंत्रीने श्रीबोपदेवजीसे अत्यन्त प्रार्थना की कि आप मुझको श्रीमद्भागवतका सारार्थ निर्माण कर दें जिससे सब शंका दूर हो जाय और एक ही दिनमें सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका पाठ हो जाय''' मैं श्रीमद्भागवतका नित्य-नियमसे सम्पूर्ण पाठ कर लूँ और यथार्थ भागवत ग्रन्थके अभिप्रायको जान जाऊँ। मंत्रीकी प्रार्थना सुनकर श्रीबोपदेवजी महाराजने बड़े परिश्रमसे इस हरिलीला नामवाले श्रीमद्भागवत ग्रन्थार्थका निर्माण किया।"

श्रीशास्त्रीजीकी उक्त व्याख्यासे यह स्पष्ट हो जाता है कि मंत्री हेमाद्रिकी प्रार्थना पर ही बोपदेवने "हरिलीला" या "भागवत-तत्त्व" या "भागवतानुक्रमणिका" का निर्माण श्रीमद्भागवतके सार रूपमें किया। सम्पूर्ण ग्रन्थमें यह कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है कि श्रीबोपदेवने श्रीमद्भागवतका निर्माण किया; वरन् ग्रन्थारम्भमें स्पष्ट ही "हरिलीलाभिधं श्रीमद्भागवततत्त्वम्" लिखा हुआ है। व्यासकृत भागवत और बोपकृत भागवतके रचना-स्थान भी भिन्न-भिन्न हैं। अतएव श्रीबोपदेवने किसी नवीन श्रीमद्भागवतकी रचना नहीं की है। भागवतको बोपदेवकी रचना बतलाना एक कोरी कल्पना मात्र ही है।

बोपदेवका समय—देवगिरि नरेश यादव महादेव सन् १२६० ई० में गद्दी पर बैठा और उसके १२ वर्ष राज्य उपभोग करनेके बाद उस गद्दी पर रामचन्द्र नामक राजाका अभिषेक हुआ, जिसने ३७ वर्ष तक राज्य किया। इस प्रकार राजा रामचन्द्रका राज्यकाल सन् १२७२ ई० से १३०६ ई० तक सिद्ध हो जाता है। हेमाद्रि उसके बालसखा, प्रधान सेनापति और मंत्री थे, जिनकी तुष्टिके लिए बोपदेवने भागवत-तत्त्वकी रचना की। इस दृष्टिसे श्रीबोपदेव-

का समय १३वीं शताब्दीसे पूर्वका नहीं हो सकता है।

इस भागवत तत्त्वकी लगभग ८०० वर्ष प्राचीन एक हस्तलिखित प्रति अत्यन्त जीर्णावस्थामें श्रीवैद्यनाथ शास्त्री (प्रबन्धक, तंत्र प्रभाकर यंत्रालय, मुरादाबाद) के संग्रहालयमें सुरक्षित थी जो कि इस समय सम्भवतः उनके पुत्रोंके पास होगी। उस प्रति में उसका रचना-सम्वत् १२१३ स्पष्ट रूपसे लिखा हुआ था। श्रीबोपदेव कृत ग्रन्थोंकी संख्या निम्न श्लोकके आधार पर २६ निश्चित होती है:—

यस्य व्याकरणे वरण्यघटनास्फीताः प्रबन्धा दश।
प्रख्याता नव वैद्यकेऽथ तिथि निर्द्धारार्थमेकोद्भवः॥
साहित्ये त्रय एव भागवततत्त्वोक्तौ त्रयस्तस्य भु-
व्यन्तर्वाणिशिरोमणेरिहगुणाः के के न लोकोत्तराः॥
(भागवततत्वम्-भूमिका पृ० ४)

अन्तिम ३ ग्रन्थ श्रीमद्‌भागवत सम्बन्धी अथवा पूर्णरूपेण आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। जिनकी रचना श्रीबोपदेवने अपनी वृद्धावस्थामें ही की होगी। उक्त श्लोकमें उनके ग्रन्थोंकी सूची क्रमानुसार है, जिसमें इन तीनों ग्रन्थों 'भागवत तत्त्वोक्तौ त्रयः' (हरिलीलामृतम्, मुक्ताफल और श्रीमद्‌भागवतकी टीका) का उल्लेख भी अन्त ही में दिया हुआ है।

इस प्रकार बोपकृत भागवततत्वका रचनाकाल सन् १२७० ई० से पूर्व निश्चित नहीं हो सकता है। अतः उक्त हस्तलिखित प्रतिके रचनाकालकी दृष्टिसे भी बोपदेवका समय १३ वीं शताब्दीसे पूर्व सिद्ध नहीं होता है।

बोपदेवके पूर्व ही श्रीमद्‌भागवतका प्रचार पर्याप्त रूपमें व्यापक था। समस्त वैष्णव सम्प्रदायोंने अपने अपने सिद्धान्तोंका प्रतिपादन श्रीमद्‌भागवतके ही आधार पर किया है। विशिष्टाद्वैत श्रीसम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीरामानुजाचार्यका उल्लेख हम कर चुके हैं कि उन्होंने अपने 'वेदान्त-तत्त्वसार'' में भागवतके वचनोंको यथेष्ट परिमाणमें ग्रहण किया है। उनका काल बोपदेवसे कमसे कम २०० वर्ष पूर्व है।

अभिनव गुप्त और भागवत---प्रत्यभिज्ञान नामक सम्प्रदायके मुख्य आचार्य श्रीअभिनवगुप्त काश्मीर निवासी थे। हमारे प्राचीन वाङ्मयके वे पण्डित थे। उन्होंने गीताकी एक संक्षिप्त टीका लिखी है जिसमें गीताके अध्याय १४ श्लोक ८ की व्याख्या करते हुए श्रीमद्‌भागवतके प्रथम और द्वितीय स्कन्धोंके अनेक श्लोकोंका उल्लेख उन्होंने श्रीमद्‌भागवतके नामके साथ किया है। यहाँ पर यह विचारणीय है कि श्रीमद्‌भागवत एक उत्कृष्ट वैष्णव ग्रन्थ है और अभिनवगुप्त परम शैव कहे जाते हैं। शैव और वैष्णवोंमें उस समय परस्पर बहुत विवाद था, यदि श्रीमद्‌भागवत अप्रमाणिक या नवीन रचना होती तो शैवोंके प्रधान आचार्य अभिनव गुप्त उसका उल्लेख कदापि नहीं करते। अन्तःसाक्षके आधार पर अभिनवगुप्तका समय १० वीं शती है।

मध्वाचार्य---द्वैतवादके प्रसिद्ध आचार्य श्रीमध्वाचार्यने "भागवत तात्पर्य निर्णय" (श्रीमद्‌भागवतकी टीका) की रचना की, प्रस्तुत टीकामें उन्होंने भागवतके अनेक प्राचीन टीकाकारोंके नाम भी लिखे हैं। जैसे—विद्वद्वर श्रीहनुमान्, चित्सुखा-

चार्य आदि-आदि। श्रीमध्वाचार्यजीने अपनी इस टीकाके नारायणाष्टकाक्षरके एक उद्धरणमें श्रीमद्-भागवतको पंचम वेद भी कहा है। श्रीमध्वाचार्यका काल बोपदेवसे कमसे कम सौ वर्ष पूर्व अवश्य होगा।

महाकवि चन्दवरदाई और भागवत---महाराज पृथ्वीराज चौहानके बालसखा एवम् मंत्री महाकवि चन्दवरदाईने अपने "पृथ्वीराज रासो" में श्रीमद्भागवतकी अनेकों घटनाओंका उल्लेख श्रीभागवतकी महिमाके साथ किया है। जैसे—सर्प द्वारा महाराज परीक्षितका डसा जाना, भगवानके अवतारों का वर्णन आदि-आदि:---

"भाग्वत्त सुनहि जो इक चित्त, तौ सराप छुट्टय अक्रम" "·········कीर परीषत्त सम"।

पृथ्वीराज रासोका रचनाकाल सन् १२०० से बाद मान्य नहीं है (देखिये डा० रामकुमार और डा० दीक्षित कृत हिन्दी साहित्यका संक्षिप्त इतिहास पृ० ७३)

उक्त विवरणोंसे पूर्णतया स्पष्ट है कि अभिनव-गुप्त, मध्वाचार्य और महाकवि चन्दके बहुत बाद श्रीबोपदेव हुए हैं। यदि श्रीमद्भागवत श्रीबोपदेव कृत होता तो उक्त तीनों महापुरुष श्रीभागवतकी रचनासे पूर्व ही उसका उल्लेख अपने-अपने ग्रन्थोंमें नहीं कर सकते थे (द्रष्टव्य-भागवतांक पृ० ५७ और ६०)।

महत्वपूर्ण हस्तलिखित प्रति---बिना इस हस्तलिखित प्रतिका उल्लेख किये हुए यह निबन्ध अपूर्ण समझा जायेगा। श्रीसरस्वती भवन पुस्तकालय, बनारसमें श्रीमद्भागवतकी एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है, जिसका छायाचित्र कल्याणके "कृष्णांक" में छपा भी है। उसका लिपिकालई० सन् में परिणत करने पर वह १२ वीं शतीकी रचना निश्चित होती है। वर्णमालाके क्रमविकासादिकी दृष्टिसे भी महामहोपाध्याय कविराज पं० गोपीनाथजी (भूतपूर्व प्रधानाचार्य, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी) ने उसकी लिपि-बारहवीं शतीकी ही सिद्ध की है। अर्थात् इस हस्तलिखित प्रतिकी लिपि बोपदेवके जन्मसे पूर्वकी है (देखिये कृष्णांकमें भागवतकी हस्तलिखित प्रतिका छायाचित्र)

तात्पर्य यह है कि अनेकों ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि श्रीमद्भागवतके रचयिता श्रीवेदव्यास ही हैं। इसका रचनाकाल न तो तेरहवीं शती ही है और न छठी-शताब्दी ही; वरन् जैसा कि लेखके प्रारम्भमें ही लिखा जा चुका है कि इस महाग्रन्थका रचनाकाल ईसासे ५००० वर्ष पूर्व है। श्रीमद्भागवत को बोपकृत या नवीन ग्रन्थ बतलाना यह एक कोरी कल्पना मात्र ही है।

—केदारदत्त तिवाड़ी एम. ए. सा. र. साहित्यालंकार
गुरुनानक नगर, मथुरा।

कलि

कलि समस्त उपद्रवोंका कारण है

कलौ न राजन् जगतां परं गुरुं त्रिलोकनाथानतपादपंकजम् ।
प्रायेण मर्त्या भगवन्तमच्युतं यक्ष्यन्ति पाषण्ड विभिन्न चेतसः ॥
(भा० १२।३।४३)

श्रीमद्भागवतके इस गम्भीर अर्थपूर्ण श्लोकका पाठ करके हमलोग अपने समस्त दुःखोंका कारण समझ सकते हैं । साम्प्रदायिक दीक्षा लाभ करके हम अर्चन मार्गमें प्रवेश करके भी प्रेम लाभ नहीं कर पाते । नाना शास्त्रोंका अध्ययन और अध्यापना करके भी हमलोगोंकी विशुद्ध कृष्णमति नहीं उपजती । अनेक प्रकारके व्रतादिका आचरण करके भी हमलोग निर्मल भक्ति लाभ नहीं कर पाते । गोस्वामी-वंशमें जन्म-ग्रहण करके भी हम सरल गौरभक्ति अर्जन नहीं कर पाते । वैष्णवके निकट वेषधारण करके भी हम केवल संसारकी उपासना ही करते रहते हैं । कलि ही हमलोगोंके इन समस्त उपद्रवोंका एकमात्र कारण है ।

कृष्ण और कृष्णनामके अतिरिक्त दूसरी उपासना पाषण्ड मत है

श्रीकृष्ण समस्त उपास्य देवताओंके उपास्य एवं जगतके परमगुरु हैं । कृष्णोपासना सभी जीवोंका सार्वकालिक कर्त्तव्य होनेपर भी समस्त जीव कलि-युगमें पाषण्डकी भाँति और पाषण्ड प्रवृत्ति द्वारा चालित होकर उसको प्रायः भूले रहते हैं और आचरण नहीं करते । श्रीमद्भागवतमें अन्यत्र भी एक दूसरे श्लोकमें ठीक यही भाव व्यक्त हुआ है—

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः ।
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान् ॥
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं ।
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥
(भा० १२।३।४४)

संसारी जीव सर्वदा मृत पुरुषके समान एवं दुःखमें अत्यन्त व्याकुल बने रहते हैं । जो परमपुरुष श्रीकृष्णका नाम पतित, च्युत अथवा विकल होकर उच्चारण करता है, वही म्रियमाण जीव समस्त कर्म बन्धनसे मुक्त होकर उत्तम गति लाभ करता है । हाय ! कलियुगमें वे लोग भगवानके नामरूपी यज्ञसे उसकी उपासना नहीं करते, जो कलिकालमें सर्वश्रेष्ठ और सबसे सहज साधन है ।

नामकीर्तन ही कर्म-बन्धनसे मुक्तिका उपाय है

मूल तात्पर्य यह है कि कर्म ही जीवका बन्धन है । उस बन्धनसे मुक्त होनेके लिए नाम संकीर्तन ही एकमात्र उपाय है । केवल ज्ञान ही जीवकी गति नहीं है । अपितु भक्ति ही जीवकी उत्तम गति है । कलि जीवका इस प्रकारका शत्रु है, जो जीवको इस युगके लिए सर्वश्रेष्ठ साधन हरिसंकीर्तनमें स्थिर नहीं होने देता । संकीर्तनको कलियुगका एकमात्र औषध कहा गया है । यथा—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत् ॥
(भा० १२।३।५१)

कलि समस्त दोषोंका समुद्र होनेपर भी इसमें एक महान् गुण है; वह यह कि इसके अन्तर्गत कृष्ण-कीर्तन करनेसे जीव सहज ही सर्वप्रकारकी सांसारिक आसक्तियोंसे छुटकारा पाकर पराभक्ति प्राप्त करता है।

अब देखो भाई ! शास्त्र कहते हैं कि समस्त प्रकारके साधनोंका परित्याग करके कलियुगमें जीव को केवल भगवन्नामादिका कीर्तन करना चाहिए। परन्तु फिर कहा है कि कलियुगमें जीव कृष्णनाम कीर्तन द्वारा अधिकांश रूपमें उपासना नहीं करेंगे। इसका कारण क्या है ?

मनुष्यका मन संकल्प-विकल्पात्मक होता है। वह मन विषयों पर विचार करके अपने कर्त्तव्य और अकर्तव्यको स्थिर करता है; किन्तु चित्त-प्रवृत्ति अपराजित रहकर प्रेयः विषयकी ओर दौड़ती है और विवेकको स्थिर नहीं होने देती । अधिकतर लोग विद्याभ्यास करके एवं सन्त लोगोंके सुन्दर उपदेश सुनकर जान पाते हैं कि मद्यपान और मांस भोजन हानिकारक है, किन्तु लालसावश इन सब कार्योंसे अलग नहीं हो पाते। शास्त्रोंका अध्ययन करने वाले समस्त पण्डितजन जानते हैं कि हरिनामके बिना जीवकी गति नहीं है। फिर भी सामान्य कर्म मीमांसाके वशीभूत होकर विषय-भोगोंमें ही लिप्त रहते हैं। पूर्व जन्मकी एवं आधुनिकी वासनासे ही चित्त प्रवृत्तिका जन्म होता है।

साधुसंग और नाममें रुचि होने पर ही चित संयम होता है, युक्ति द्वारा नहीं

अत्यधिक सत्सङ्ग और समालोचनाके बिना चित्त-प्रवृत्तिकी शक्तिका ह्रास नहीं होता। केवल युक्तिसे उत्पन्न विवेक कुछ भी नहीं कर सकता। अतएव भक्ति मीमांसकगणोंने लिखा है—

स्वल्पापि रुचिरेव स्याद्भक्तितत्त्वावबोधिका ।
युक्तिस्तु केवला नैव यदस्या अप्रतिष्ठिता ॥
(भ० र० सि० १।१।३२)

जिस जीवकी हरिनाममें थोड़ी भी रुचि अर्थात् चित्त प्रवृत्ति हो गई है, वे ही भक्तिके अधिकारी हैं। केवल युक्ति द्वारा कभी भी भक्ति नहीं होती। वेदमें केवल युक्तिकी अप्रतिष्ठाका ही गान किया गया है।

कलिसे प्रभावित जीवकी हरिनाममें सहज ही रुचि नहीं होती। वे विवेक द्वारा ऐसा सुनते हैं कि—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(वृहन्नारदीय ३८।१२८)

कलियुगमें धर्मके नाम पर पापाचार और कपटता

जब चित्त-प्रवृत्ति वेश्यालयमें, मद्यपानमें, अथवा स्वर्णके प्रयासमें लगी रहती है, तब कलिसे प्रसित जीव कर्त्तव्यसे विमुख होकर अपने चरित्रके दोषोंको छिपाते हुए नाना पथोंका अवलम्बन करते हैं। और युक्तिद्वारा यह बतलाते हैं कि थोड़ी मात्रामें मद्य और मांस न खाने पर मनुष्यके शरीरमें बलकी कमी

हो जाती है। वेश्यागमन इत्यादि जो मानवका निश्चित पाप कार्य है, उसको वे नाना प्रकारसे युक्ति-संगत सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। कपट भक्ति दिखलाकर अर्थ संग्रह करते हैं। हरिनाम कीर्तनको एक शुभ कर्म बतलाकर वे हरिसंकीर्तनका एक दल बनाते हैं और प्लेग, महामारी तथा अन्यान्य पाप-निवृत्तिके उद्देश्यसे सकाम नगर-कीर्तन किया करते हैं। एक ओर कर्मीगण सकाम कर्म करते हैं और दूसरी ओर उसे 'कृष्णार्पणमस्तु' कह कर एक कपट पंथ निकालते हैं। नास्तिक लोग शून्यकी अथवा शून्यप्राय कल्पित ब्रह्मकी प्रतिष्ठा करके अपनेको धार्मिक कहलाना चाहते हैं। इसी प्रकार जगत्में प्रतिदिन कपट व्यवहार चल रहा है। तिस पर भी उनका ऐसा कहना है कि अच्छी वस्तुका आभासमात्र भी अच्छा है। ऐसा उपदेश देकर वे लोग कपटी वैष्णवोंकी संख्यामें वृद्धि करके कलिकी सेवा कर रहे हैं।

कलिका अधिकार और स्थान निर्णय

कलि ही इन समस्त उपद्रवोंका मूल है। जो कलिकी उपेक्षा कर विशुद्ध भावसे सदाचार करते रहते हैं, केवल वे ही शुद्ध वैष्णव हो सकते हैं। हम अपने कल्याणके लिए कलिके अधिकार एवं स्थान का विचार करेंगे।

श्रीमद्भागवतमें इस प्रकारका वर्णन है कि—एक समय महाराज परीक्षितके राज्यमें जब कलि प्रवेश करने लगा, तब परीक्षित महाराजने उसे अपने राज्यमें प्रवेश करनेसे रोक कर कहा—अधर्म बन्धो! तुम मेरे राज्यमें कहीं भी स्थान नहीं पा सकते। हाँ, तुम्हें अधर्मके चार स्थानोंको दे रहा हूँ, जहाँ तुम रह सकते हो—

अभ्यर्थितस्तदातस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्युतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः॥
(भा० १।१७।३८)

कलिकी प्रार्थनानुसार राजाने उसे द्युतक्रीड़ा (जुआ), मदिरापान, स्त्रीसङ्ग और प्राणीवध—ये जहाँ होते हैं, वे चार स्थान कलिको दिए।

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरञ्च पंचमम्॥
(भा० १।१७।३९)

पुनः ये चारों जहाँ एकत्र पाए जाँय, वह स्थान माँगने पर राजाने उसे स्वर्ण, तत्पश्चात् असत्य-व्यवहार, मद, काम, रज और वैर—ये कतिपय स्थान और भी दिए।

कलि पंचक और उसके चार स्थान

इन सब बातों पर भली-भाँति विचार करके देखिए। यदि कलिसे दूर रह कर हरिभजनकी इच्छा होती है तो द्युतक्रीड़ा स्थान, मद्यपान, स्त्रीसङ्ग और प्राणी-हिंसासे दूर रहना आवश्यक है। सर्वत्र ही स्वर्ण अर्थात् अर्थका ही प्रयोजन है। वहाँ स्वभावतः ही असत्य-व्यवहार, मद, काम, रज, वैर आदि उपस्थित रहते हैं। उपरोक्त चारोंकी पृथक्-पृथक् आलोचना होने पर ही विषय स्पष्ट हो सकेगा।

(१) कलिका स्थान—द्युतक्रीड़ा

सर्वप्रथम द्युतक्रीड़ा (जुआ) के स्थानका विचार किया जाता है। निर्जीव वस्तु द्वारा जिस स्थान पर

क्रीड़ा होती है, वही द्यु तक्रीड़ाका स्थान है। ताश, पाशा, शतरञ्ज, कैरम्बोर्ड आदि जितने प्रकारकी क्रीड़ाएँ हैं, उन सबके स्थानोंको द्यु तक्रीड़ाका स्थान कहा जाता है। आधुनिक लॉटरी-घरको भी द्यु त-क्रीड़ाका स्थान कहा गया है। नल राजा, युधिष्ठिर, दुर्योधन, शकुनि आदि राजाओंका इतिहास पढ़ने-सुननेसे देखा जाता है कि द्यु तक्रीड़ाके स्थान पर चोरी, कपटता आदि उपाय द्वारा अर्थ लाभके लिए भीषण कलह और सर्वनाश हो गया है। आजकल भी जो समस्त क्रीड़ा स्थल हैं, उन सब स्थानोंमें अधिकांश लोगोंके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सबका नाश होता देखा जाता है। इन सब क्रीड़ाओंमें जो रत रहते हैं—वे बड़े आलसी और कलह प्रिय होते हैं। उनके द्वारा कोई भी धर्म-काम नहीं हो सकता। अतएव द्यु त क्रीड़ाके स्थानमें कलिका जो निवास है, इसमें संदेह ही क्या है। मार्गमें चलते-चलते हम बहुत-सी दुकानोंको देखते हैं, जहाँ कुछ व्यक्ति एकत्र होकर ताश, शतरंज या पाशा क्रीड़ा खेला करते हैं। उसमें दुकान-मालिक भी सम्मिलित हो जाते हैं। फल यह होता है कि अपने ग्राहकोंको समयानुसार माल न दे पानेके कारण ग्राहकोंको सन्तुष्ट नहीं कर पाते। और इस प्रकार धीरे-धीरे ग्राहकोंकी संख्या कम होती जाती है एवं थोड़े समयमें ही दुकान बंद हो जाती है। कभी-कभी दुकानदार उन क्रीड़ाओंमें इतने व्यस्त हो जाते हैं कि चोर सुयोग देख कर दुकानकी चीजोंको चुराकर भाग जाते हैं। इसके अतिरिक्त दुकानदारके साथ जो खेलने आते हैं, वे लोग भी दुकानके द्रव्योंको धीरे-धीरे लुका-छिपाकर चुरा लेते हैं। और इस प्रकार दुकानदारकी बड़ी हानि करते हैं। देखो भाई, द्यु तक्रीड़ा कितना भयानक है। अनेक सज्जन पुरुष भी कुसङ्गमें पड कर द्यु तक्रीड़ाके स्थानोंमें प्रवेश करते हैं और अंतमें दुर्जन हो जाते हैं। जो धार्मिक अथवा भक्त बननेकी इच्छा रखते हैं, उनको द्यु त क्रीड़ाके स्थानों-का अवश्य ही परित्याग करना चाहिए।

(क्रमशः)

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्ति विनोद ठाकुर

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो, नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थोयतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल-परमानन्दपूर्णामृताब्धे, गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

—पद्यावली

श्रीचैतन्यमहाप्रभु भी जीवके स्वरूपका निर्देश करते हैं कि—न मैं ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य हूँ, न शूद्र, न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थी, न वानप्रस्थी हूँ, न संन्यासी, किन्तु निखिल परमानन्द परिपूर्ण, अमृतसागर स्वरूप, गोपीपति श्रीकृष्णके चरणकमलोंके दासोंके दासानुदासोंका भी एक छोटासा दास हूँ, अर्थात् जीवोंका स्वरूप नित्य भगवद्दास है।